पुण्य-धर्म मीमांसा

इन्द्रलाल शास्त्री, विद्यालङ्कार

ये

पुर से इस पुस्तक के
सम्पादकत्व में निकलता
मूल्य पांच रुपया।
ार्यालय जयपुर सिटी

॥ श्रीः ॥

पुण्य-धर्म-मीमांसा

लेखकः—

श्री पं० इन्द्रलालजी शास्त्री, विद्यालंकार

प्रधान संपादक-'अहिंसा', जयपुर

प्रकाशक :

तनसुखलाल काला, निरंजनलाल जैन

मंत्री, भारतवर्षीय दि० जैन सिद्धान्त रक्षिणी सभा

१६१, कालबादेवी रोड, बंबई २

प्रथमवार २०००] [मूल्य चार आने

मुद्रक:-

राजस्थान प्रिंटिंग वर्क्स, किशनपोल बाजार, जयपुर ।

प्रारंभिक वक्तव्य

आजकल कुछ लोग लोकैषणा आदि के व्यामोह में पड़ कर आध्यामिक संतपने का बाना पहन कर आध्यात्मिकता की ओट में लोगों को धर्मकार्यों से उदासीन अथवा विरक्त बन जाने का उपदेश देने लगे हैं। फलतः सैंकड़ों लोग धनार्जन, व्यापार, व्यवसायादि को बंध का कारण होते हुये भी न छोड़ कर देव पूजा आदि धर्म कार्यों को बंध का कारण कहते हुए छोड़ते जाते हैं। कितने ही लोगों ने रात्रि भोजनादि करना भी प्रारंभ कर दिया है। उपालंभ देने पर यहां तक कह देते हैं कि रात्रि भोजनादि के त्याग करने में धर्म नहीं है! वास्तव में देवपूजादि धर्मकार्यों से विरक्ति और पापाचार में प्रवृत्ति धर्म और समाज की पतित दशा के परिचायक हैं।

श्री पंडित इन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालंकार जयपुर अपनी चिरकाल से चली आई अस्वस्थता में भी धर्म और समाज की सेवा के लिए निरन्तर परिश्रम कर रहे हैं। आप अहिंसा पत्र का सफल संपादन तो कर ही रहे हैं, साथ में आपने भारतीय संस्कृति का मूल रूप मंदिर प्रवेश मीमांसा दिगंवर जैन साधु की चर्या, भाव लिंगी द्रव्यलिंगी मुनि का स्वरूप आदि पुस्तकें भी जिनकी कि अत्यंत आवश्यकता और उपयोगिता है, इसी अस्वस्थदशा में लिखी हैं। प्रस्तुत पुस्तक में भी आपने पुण्य और धर्म के संबंध में मार्मिक प्रकाश डालते हुये युक्ति प्रमाणों से इनकी परमावश्यकता और उपादेयता सिद्ध की है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए पढ़ने योग्य ही नहीं किन्तु जीवनचर्या में ओतप्रोत करने योग्य भी है। इस महान् उपकार के उपलक्ष्य में आपका समाज जितना भी आभार माने, थोड़ा है।

इस पुस्तक की निम्नलिखित महानुभावों ने प्रतियां खरीद कर सभा के कार्य में हार्दिक सहयोग देते हुए जो सम्यग्दर्शन का स्थितीकरण अंग पालन किया है वह प्रशंसनीय और अनुकरणीय भी है। अतः आप सभी हार्दिक साभार धन्यवाद के भाजन हैं।

२०० श्री० सेठ दीपचन्दजी चांदमलजी बड़जात्या नागौर

२०० श्री० सेठ चांदमल धन्नालाल कलकत्ता

२०० श्री० सेठ श्रीनिवासजी सुखानंदजी बम्बई

१०० श्री० सेठ चांदमलजी महता बम्बई

१०० श्री० सेठ कचरदासजी रमणलालजी बाकलीवाल औरंगाबाद

१०० श्री० सेठ छोटालालजी वेणीचंदजी जालना

१०० श्री० सेठ किसनलालजी हीरालालजी प्रतापगढ़

१०० श्री० शाह सौभागचन्दजी कालीदासजी डबका (बड़ौदा)

१०० श्री० सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल जोरहाट (आसाम)

१०० श्री० सेठ प्रभुलालजी धर्मचन्दजी अहमदाबाद

आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक से भ्रामक विचारों के निरसन में बहुत सहायता मिलेगी और सम्यग्दर्शन के स्थितीकरण अंग की सुरक्षा होगी।

मार्ग शीर्ष शुक्ल त्रयोदशी
विक्रम संवत् २०१३
ता० १५-१२-१९५६

धर्म समाज सेवी—

तनसुख लाल काला
निरंजन लाल जैन

मंत्री, भारतवर्षीय दिगंबर जैन सिद्धान्त रक्षिणी सभा,
१६१ कालबादेवी रोड़ बम्बई २

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

पुण्य-धर्म-मीमांसा

अर्हत्सिद्धादिकान्पंच प्रणम्य परमेष्ठिनः ।
मीमांसा क्रियते पुण्यधर्मयोरागमानुगा ॥

अर्हन्त, सिद्ध आचार्य, उपाध्यायं और साधु इस प्रकार पांच परमेष्ठियों को नमस्कार कर आगमानुसार पुण्य और धर्मकी मीमांसा की जाती है ।

पुण्य शब्दकी व्युत्पत्ति

'पुण्य' शब्द संस्कृत भाषाका है । जिस भाषाका जो शब्द होता है उसका ज्ञान उस भाषा के तात्विक और मार्मिक ज्ञानके बिना नहीं होसकता । इसलिए पुण्य शब्दका अर्थज्ञान करने के लिए सबसे पहले पुण्य शब्द कैसे बना और यह किमर्थक है, इस बात के जानने की अत्यंत आवश्यकता है ।

शब्द तीन प्रकार के होते हैं,—यौगिक, योगरूढ और रूढ । यह पुण्य शब्द यौगिक या योगरूढ है । यौगिक शब्द उसे कहते हैं जो प्रकृति और प्रत्ययों से बना हो । पुण्य शब्द "पूञ् पवने" या "पुण कर्मणि शुभे" प्रकृति (धातु) से बना है । पूञ् धातुसे यण" णुक् और ह्रस्व होजाने पर पुण्य शब्द बनता है अथवा पुण धातु से यत् प्रत्यय होने पर 'पुण्य' शब्द बनता है ।

पून् धातुसे बनने वाले पुण्य शब्दका अर्थ है कि जिससे आत्मा पवित्र हो। "पूयते येन आत्मा तत्पुण्यं"। पुण धातुसे बनने वाले पुण्य शब्दका अर्थ है कि जो आत्माको श्रेष्ठ कर्म में प्रयुक्त करे उसका नाम पुण्य है। इन दोनों धातुओंसेही बनने वाले इस पुण्य शब्द का अर्थ "आत्माको पवित्र करनेवाला" यह होता है।

धर्म शब्दकी व्युत्पत्ति

'धर्म' शब्दभी संस्कृत भाषाका और यौगिक अथवा योगरूढ ही है। धर्म शब्द 'धृञ् धारणे' अर्थात् धारण अर्थ वाले 'धृ' धातुसे मन् प्रत्यय लगने पर बनता है। जिसका अर्थ होताहै— जो धारण किया जाय सो धर्म है। "येन यः ध्रियते स धर्मः।"

धर्म और पुण्य दोनों एकार्थक हैं

पुण्य और धर्म शब्द, शब्दभेद से भिन्न भिन्न होते हुये भी एकार्थक अर्थात् दोनों एकही अर्थ वाले हैं। अच्छे आचरण का नाम धर्म है। अच्छे आचरण के बिना कोई पुण्यस्वरुप (पवित्रात्मा) नहीं होसकता और पुण्यस्वरूप हुये बिना कोई सदाचार को धारण नहीं कर सकता इसलिए पुण्य और धर्म दोनों अविनाभावीभी है और ये दोनों एकार्थक भी हैं। शब्दकोशों में भी धर्म और पुण्य दोनों को परस्पर पर्याय वाची और एकार्थक ही बतलाया गया है। यथा—

स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः ॥ २४ ॥

(अमरकोष प्रथमकांड)

अर्थात्-धर्म, पुण्य, श्रेयस् सुकृत और वृष ये पांचों धर्म के ही नाम हैं। इस वाक्य से स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुण्य और धर्म इनमें शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं है।

जैन या श्रावक के लिए अष्ट मूल धारण और षडावश्यक पालन पुण्य स्वरूप हैं। इन १४ से आत्मा में पवित्रता आती है और पवित्रतम बन जाने की शक्ति प्राप्त होती है। अष्टमूल गुणों के धारण और देवपूजादि षडावश्यकों के पालन से पुण्य होता है जिसे श्री समन्त भद्राचार्य महाराज ने धर्म ही कहा है जो श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार के इस श्लोक से स्पष्ट होता है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवंति भवपद्धतिः ॥

अर्थात्- धर्मेश्वर (तीर्थंकर भगवान्) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको धर्म कहते हैं। इनसे उलटे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र को अधर्म कहते हैं और ये मिथ्यादर्शनादि संसार दुःखों के कारण होते हैं।

रत्नकरंडश्रावकाचार श्रावकों के आचरणका प्रतिपादक ग्रंथ (शास्त्र अथवा आगम) है। यहां श्री समन्तभद्राचार्य महाराज ने श्रावक के आचरण अष्टमूलगुण धारण और षडावश्यक पालनादि रूप पुण्यबंध के कारणों को स्पष्टतः धर्म शब्दसे बतलाया है।

देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये श्रावकके छह धर्म हैं। इन कार्यों में श्रावक के जितने अंशों में राग होता है उतने अंशों में शुभबंध होता है और जितने अंशों में वीतरागता है उतने अंशों में संवर और निर्जरा होते हैं।

वस्तुका स्वभाव ही धर्म है

जैसे मनुष्य एक वस्तु है वैसे उसका एक पर्याय श्रावक भी एक वस्तु है। उस श्रावक रूप वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उसका आदर सत्कार अर्चनादि करना कृतज्ञ श्रावक का कर्तव्य या धर्म है। भगवान् की पूजा करना उसी कृतज्ञता का एक प्रधान अंग है. इसलिए देव पूजा करना कृतज्ञ मानव का स्वभाव या धर्म है जो हेय नहीं किन्तु सर्वथा उपादेय है। जिस प्रकार देवपूजादिक श्रावक का धर्म है उसी प्रकार दान देना भी धर्म है। धर्म कभी हेय नहीं होता किन्तु उपादेय ही होता है। जो लोग देवपूजा, दानादि से बंध कह कर इन्हें हेय बतलाते हैं वे स्वयं हेय और शोचनीय हैं।

पुण्य हेय नहीं, उपादेय है।

श्री गुणभद्राचार्य श्री आत्मानुशासन ग्रंथराज में उपदेश देते हुए कहते हैं कि:—

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात्पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२३॥

भावार्थ—समस्त बुद्धिमान् पुण्य और पाप का कारण आत्म परिणाम ही बतलाते हैं इसलिए पाप का नाश और पुण्य का संग्रह सदैव करना चाहिये। यहां "पुण्योपचय" को विधेय बतलाया है। विधेय के भी आचार्य श्री ने 'सु' उपसर्ग लगा कर और भी विशेषतया विधेय बतला दिया है। पुण्योपचय का अर्थ 'पुण्यसंचय' है।

आगे भी उक्त आचार्य महाराज ने पुण्य संपादन करने के लिए ही कहा है:—

पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि
नोपद्रवोऽभिभवति हि प्रभवेच्च भूत्यै।
संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः
पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम् ॥३१॥

अर्थ—हे भव्य ! तू पुण्य कर, क्योंकि पुण्य किये हुए प्राणी को कठिन से कठिन उपद्रव भी संक्लेशकारी न होकर उलटा विभूतिकारी हो जाता है। जैसे सूर्य सारे जगत् को संतापकारी होते हुए भी कमलों को खिला देता है।

दर्शन और धर्म

प्रत्येक मान्यता के दो पहलू होते हैं। एक दर्शन और दूसरा धर्म। दर्शन को अंग्रेजी में फिलासफी कहते हैं। दर्शन का लक्ष्य किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करना होता है। दर्शन का

सम्बन्ध विचार से होता है और धर्म का सम्बन्ध होता है आचार या आचरण से।

दर्शन में इस बात का विचार किया जाता है कि द्रव्य, तत्व, पदार्थ आदि कितने होते हैं और उनका क्या क्या स्वरूप है। आत्मा है या नहीं ? है तो उसका क्या स्वरूप है। पुनर्जन्म है या नहीं, है तो किस प्रकार है ? कोई सृष्टि का कर्ता है या नहीं ? है तो कैसे नहीं, है तो कैसे ? सारांश यह है कि जहां युक्तियों और प्रमाणों से किसी सिद्धान्त की सिद्धि की जाती है वह दर्शन कहलाता है जिसका सम्बन्ध विचार से है। धर्म में यह बतलाया जाता है कि क्या क्या उपादेय कार्य होते हैं और क्या क्या हेय ? हमें क्या खाना पीना चाहिये, किस प्रकार से खाना पीना चाहिए। पूजन सामायिक प्रतिक्रमणादि किस तरह करना चाहिये। झूंठ नहीं बोलना चाहिये, चोरी नहीं करना चाहिए, हिंसा नहीं करना चाहिये इत्यादि बातों का जहां विधान या प्रतिपादन हो उसका नाम धर्म है। धर्म का सम्बन्ध आचार या आचरण से होता है।

सिद्धान्त और धर्म में अथवा विचार और आचार में घनिष्ट सम्बन्ध है। आचार के अनुसार विचार और विचार के अनुसार आचार प्रायः देखा जाता है। विचार के अनुसार ही मनुष्य के आचरण का निर्माण होता है। जैसे जो भगवान् की पूजा करने में कर्मबंध मानता है वह भगवान की पूजा क्यों करेगा जो जीव दया या अहिंसा में धर्म नहीं मानता वह किसी को मरने से क्यों बचावेगा या क्यों उसे मारने से रुकेगा।

जिसका सत्य में विश्वास नहीं वह असत्य बोलने से क्यों रुकेगा। जो चोरी करने में अपराध नहीं मानता वह चोरी करने से क्यों रुकेगा। जो व्यभिचार में पाप नहीं मानता वह ब्रह्मचर्य क्यों पालन करेगा। जो परिग्रह को पाप और संसार का कारण नहीं मानता वह परिग्रह को क्यों छोड़ेगा। इस प्रकार मनुष्य के विचारों का सम्बन्ध उसके आचरण से रहता है अर्थात् आचरण का निर्माण विचारों के अनुसार ही होता है।

इसी प्रकार आचरण से विचारों का निर्माण होता है। जैसे मांस भक्षी के परिणामों में क्रूरता आये बिना नहीं रहती। शाकाहारी के परिणाम कोमल होते ही हैं। कोई भी शाकाहारी अपने समक्ष या परोक्ष में भी हिंसा होती देख या जान कर दुःखी हो जाता है और मांस भक्षी या हिंसक हिंसा होती हुई देख कर दुःखी नहीं होता।

विचार बदलने में मुख्यतः सहायक दर्शन होता है और आचार बदलने में सहायक होता है धर्म। यदि कोई नास्तिक है, पुनर्जन्म और परलोक को नहीं मानता और उसके समक्ष रात दिन आस्तिकतापोषक युक्ति प्रमाणों और चर्चाओं का वातावरण बना रहे तो वह नास्तिक से आस्तिक हो सकता है। इसी प्रकार आस्तिक भी नास्तिकता के वातावरण से नास्तिक बन सकता है। जैसे वर्तमान वातावरण नास्तिकताप्राय है तो लोग आस्तिक से नास्तिक प्रबल वेगसे बन रहे हैं। बाह्य वातावरणका प्रभाव आत्मा पर पड़े बिना नहीं रहता।

धर्म, आचार बदलने में सहायक इस प्रकार होता है कि सदाचारियों के साथ अहोरात्र रहने अथवा उसी प्रकार के वातावरण में रहने से जब मनुष्य हिंसक आहार पान की प्रणाली से दूर हो जाता है तो उसके परिणामों से क्रूरता हटती चली जाती है और यदि वैसा ही वातावरण बना रहे तो हिंसक प्रवृत्तियों से उसे ग्लानि भी हो सकती है। वास्तव में द्रव्य क्षेत्र काल भाव की महिमा अवर्णनीय है। द्रव्य क्षेत्रादिका माहात्म्य बड़ा प्रबल है।

संसार में दो ही प्रकार के कार्य होते हैं, पापकार्य और पुण्य कार्य। हिंसा, झूंठ, चोरी, व्यभिचार, मायाचारादि पापकार्य और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, चित्तसरलतादि पुण्यकार्य हैं। ये सब पुण्यकार्य ही धर्मस्वरूप हैं। जो आत्मा को पवित्र करने वाले कार्य होते हैं वेही पुण्यकार्य कहलाते हैं और धर्म भी उन्हींका नाम है। धर्मकार्य और पुण्य कार्यमें कोई अंतर नहीं है। अंतर है तो इतना सा अवश्य है कि यदि किसी धर्मकार्य को करके उसके द्वारा यश आदिकी जो इच्छा होती है या किसी धर्म कार्य के बदले किसी सांसारिक स्वार्थ की भावना होती है तो वह लौकिक धारणा में पुण्य कहलाता है और जिस कार्य में ये बातें नहीं होती वह धर्म कहला जाता है।

श्री० आचार्य देवसेन महाराज कहते हैं कि—

सम्माइट्ठी पुण्णं ण होइ संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेऊ जइ वि णियाणं सो कुणई ॥४०४॥

भाव संग्रह—

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य नियम से संसारका कारण नहीं होता किन्तु मोक्ष का कारण ही होता है यदि उसके द्वारा किये हुए पुण्य में निदान अर्थात् कोई सांसारिक इच्छा न हो।

धर्म कर्तव्यपालन का नाम है। कर्तव्यपालन समझ किसी बात को धारण किया जाय तो उसका नाम धर्म होजाता है और उसी कार्य को करते हुए कुछ यश, सांसारिक स्वार्थ की लालसा भी यदि उसमें हो तो उसी को पुण्य कह दिया जाता है। वह लालसा (राग भाव) बंधका कारण होजाती है इसीलिए पुण्य के साथ बंध शब्द लगा देने से वह 'पुण्यबंध'' कहला जाता परन्तु धर्म के साथ 'बंध' शब्द न लगाया जाकर साधन या आचरण लगाया जाता है। जैसे धर्म साधन या धर्माचरण। तत्वत: धर्म और पुण्य एकार्थक है। सो ही श्री अमृतचंद्राचार्य महाराज कहते हैं—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनास्य बंधनं भवति॥ २१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बंधन नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनास्य बंधनं भवति॥ २१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनंशेनास्य बधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधन भवति॥ २१४॥

(पुरुषार्थ सिध्युपाय)

भावार्थ—जिस अंश से सम्यक् दृष्टि पनां है उस अंश से बंध नहीं है परन्तु जितने अंश में उसमें रागभाव होता है उतने ही अंश में बंध होता है।

जितने अंश में सम्यग्ज्ञान है उतने अंश में बंध नहीं है परन्तु उसमें जितने अंश में रागभाव होता है उतने ही अंश में बंध होजाता है।

जितने अंश में सम्यक् चारित्र हैं उतने अंश में बंध नहीं है किन्तु उसमें जितने अंश में रागभाव होता है उतने अंश में बंध हो जाता है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म किसी भी अवस्था मे बंध का कारण नहीं होता किन्तु इनके द्वारा स्वपर में राग भावका कारण ही बंध का कारण बन जाता है। सम्यक् चारित्र के ही अंगभूत देवपूजा, दान, उपवास व्रतादि हैं, जिनसे कभी बंध नहीं होता। हां, इनमें जो निज पर संबंधी रागभाव होता है, वही बंध का कारण होता है। रागभाव युक्त धर्म के परिणामों की संज्ञा पुण्य है। रागभाव हीन धर्म के परिणाम धर्म कहलाते हैं। परन्तु आत्मा की अबंध अर्थात् वीतराग अवस्था तो बारहवें गुण स्थान में होती हैं। आज कल जो आध्यात्मिक संत बने बैठे या कहलाते हैं और बंध के कारणों को हेय और त्याज्य बतलाते हैं परन्तु उनकी खुद की अबंधक अवस्था नहीं और जो उनका उपदेश सुन गद्गद से होजाते हैं न उनकी ही अबंध अवस्था है। शिष्य और गुरु दोनों एक ही

कोटि या श्रेणी में हैं। यदि ये आध्यात्मिक संत महानुभाव यह कहें कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में परनिमित्त से हेयांश जो राग भाव है वह त्याज्य है तब तो ठीक है परन्तु ये देवपूजा दानादिको ही हेय बतलाते हैं सो उनकी समझ का दिवालिया पन है। देवपूजादिको बंध का कारण न होते हुये भी जो इनको तो हेय बतलाते हैं परन्तु खाना पीना सोना बैठना विषय भोगादि करना जो सर्वथा सांसारिक और पाप बंध के कारण है उनको न स्वयं छोड़ते और न किसी को छोड़ने के लिए ही कहते हैं। साथ में यह तुर्रा और है कि जो इन कार्यों से बहुत कुछ विरक्त और उदासीन हैं, ऐसे दिगंबर जैन मुनियों की अवहेलना करते हैं और उनको अपने से सदैव नीचा अनुभव करते और बतलाते हैं।

इसी आशय को श्री समयसार ग्रन्थ के महान् वेत्ता ही नहीं किन्तु उसपर कलश चढ़ानेवाले श्री अमृतचंद्राचार्य महाराज अपने पुरुषार्थ सिध्युपाय ग्रंथ में स्पष्ट करते हैं,—

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणो बंधः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥
सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबंधकौ भवतः।
योगकषायौ, नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥ २१८ ॥

भावार्थ—तीर्थंकर प्रकृतिका बंध चौथे गुणस्थानसे आठवें गुणस्थानके छठे भागतक तीनों सम्यक्त्वोंसे होता है और आहार प्रकृति का बंध चारित्र से होता है, ऐसा वर्णन यद्यपि सिद्धान्त शास्त्रोंमेंहै परन्तु जो जिनागमोक्त नयविभागके जानकार बिद्वान्हैं उनके लिए

यह कथन आपत्तिकारक नहीं और आवरुद्ध ही है क्योंकि सम्यक्त्व और चारित्रके होते हुए जो परिणामोंमें योग और कषाय रहतेहैं वे बंधके कारकहैं, सम्यक्त्व और चारित्र नहीं। अगर योग और कषाय न होंतो सम्यक्त्व और चारित्र कर्त्ता अकर्त्ता कुछ नहीं किन्तु उदासीनहै।

इससे सर्वथा स्पष्ट होजाताहै कि योग और कषायका सद्भाव १० वें गुणस्थान तक योगका सद्भाव १३ वें गुणस्थानतक रहता है और आजके ये आध्यात्मिक संत कहलाने वाले बारीकी से जांच करने पर पहले गुणस्थानवर्त्ती ही सिद्ध होते हैं।

नय-ज्ञानकी आवश्यकता

सिद्धान्तप्रतिपादक उपदेष्टा के लिए नयप्रमाणज्ञान की बड़ी भारी आवश्यकता है। उक्त ज्ञानके बिना जो भी उपदेष्टा या उपदेशक होते हैं उनमें यह उक्ति चरितार्थ होती है कि "खुद तो डूबे पांडिया ले डूबे यजमान" अथवा "स्वयं नष्टः परान्नाशयति" अर्थात् वह स्वयंभी नष्ट होता है तथा औरों को भी नष्ट करता हैं। कोई भी किसी भाषा या विज्ञान को जानना पढ़ना चाहता है तो अनुक्रम से उसका गुरुमुख से शिक्षण प्राप्त करता है तभी वह योग्य बनता है जैसे कोई अंग्रेजी पढ़ना चाहता है तो प्राईमरी रीडर से पढ़ना प्रारम्भ करके अनुक्रमसे पढ़कर ऐम० ए० तक पहुंचता है। प्रारम्भिक दशामें ही ऐम० ए० की पुस्तक कोई नहीं पढ़ता और न पढ़सकता परन्तु जैनधर्म में इतनी पोलपट्टी है कि हर कोई समयसार लेकर पढ़ने लगजाता है उसीका फल है कि वे

लोग ऐकांतिक मिथ्यादृष्टि होकर स्वयं नष्ट होते हुये औरों को भी पतनकी ओर ढकेलते हैं। यदि ये समयसारी लोग चारों अनुयोग ग्रन्थों का समन्वय के साथ निष्पक्ष दृष्टिसे अध्ययन करें और इनमें लोकैषणा, धनैषणा, कीर्त्येषणा न हो और पीछे समयसार भी पढ़ें पढावें तो उत्पातकारी नहीं होसकते और न होसकते थे।

आचार्य अमृतचंद्र सूरि स्वयं उक्त २१७ वीं आर्यामें कहते हैं कि—"न नयविदां सोऽपि दोषाय" अर्थात् नयप्रमाण वेत्ताओंके लिए यह कथन परस्पर विरोधी नहीं है। भावार्थ—प्रत्येक विवेकशील विद्वान् या उपदेष्टा को नय प्रमाण का ज्ञाता होना परमावश्यक है। कहाभी है कि—

जे णयदिट्ठिविहूणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धी।
वत्थुसहावविहूणा सम्माइट्ठी कहं होंति ॥

अर्थात्—जो नयदृष्टि से विहीन हैं उनको वस्तुस्वभाव की प्राप्ति नहीं होती और जो वस्तुस्वभाव की प्राप्ति से शून्य हैं वे सम्यग्दृष्टि कैसे कहे जासकते हैं?

समयसार में सारा कथन अधिकतः एक नयकी मुख्यता लेकर है। खाली समयसार पढ़नेवाला एकही नयसे विचार करेगा क्योंकि उसके सामने केवल वही है इसीलिए वह ऐकान्तिक मिथ्यादृष्टि बन जाता और दूसरों को भी बनाता है परन्तु जिन्होंने अन्य सभी प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन किया है एवं जो लोकैषणादिसे दूर हैं वेही वास्तविक तत्वज्ञ या तत्वोपदेशक होसकते हैं। सोही श्री अमृत

चंद्राचार्य महाराजने "नयवित्" होने का संकेत किया है जैसाकि " न नयविदां सोऽपि दोषाय " इस वाक्य से सुस्पष्ट और प्रकट है। यदि ये लोग समयसारादि पढ़ने के पहले पुरुषार्थसिध्युपाय रत्नकरंडश्रावकाचारादि ग्रंथोंको पढ़ें सुनावें तो इनका तथा जनता का अधिक हित हो सकता है।

निश्चय और व्यवहार

वस्तुस्वभावका विचार और तदनुसार प्रवृत्ति निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकारसे साथ २ होती है। किसी समय एक गौण और उसी समय वही मुख्य एवं किसी समय एक मुख्य और उसी समय वही गौण होजाती है। जैसे एक आदमी के दो पुत्र हैं जिनमें एक का विवाह है। जिसका विवाह होता है उसके उस समय गीत गाये जाते हैं परन्तु इसका अर्थ यह लगाना कि दूसरे पुत्रका योग क्षेम नहीं चाहा जाता है, सर्वथा भूल है। जिसका विवाह है उस समय वह मुख्य है और दूसरा पुत्र गौण है। इसी बातको बहुत स्पष्ट करते हुए श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मंथाननेत्रमिव गोपी ॥२२५

(पुरुपार्थ०)

अर्थात्—जिस प्रकार दही को बिलोकर उसमें से घी निकाल ने वाली स्त्री मथानी की रस्सी को एक हाथ से खींचती है और दूसरे हाथसे ढीली करदेती है और दृढ़ता और शिथिलता इन

दोनों क्रियाओंसे मक्खन निकाल लेती है उसी प्रकार दोनों में से एक की शिथिलता और एककी दृढ़तासे वस्तुतत्व को निकाल लेने वाली जैन नीति सदैव जयवन्त रहती है।

इस श्लोकमें चार चीज हैं। एक मक्खननिकालनेवाली, रस्सी के दो भाग (एक शिथिलता और दूसरा दृढ़ता) और मक्खन। चिदात्मा पुरुष से मक्खन निकालने वाले को ज्ञानको गौणकर, सम्यग्दर्शन को मुख्य रख, चारित्र रूप मक्खन निकाल लेना चाहिये। वास्तवमें मानवजीवन का सार, या मक्खन चारित्र ही है। पुण्य अथवा धर्म ही सम्यक्चारित्र हैं। ज्ञानकी अन्तिम सीमा केवल ज्ञान है जिसके भरोसे कहांतक बैठना? जबकि इस अल्प कालिक-पर्याय में मनः पर्यय ज्ञान, अवधि ज्ञान तो क्या पूर्णश्रुत ज्ञान भी असंभवप्राय है। इसीलिए ज्ञानको गौण रखना बतलाया है।

यहां पूज्यपाद अमृतचंद्राचार्य महाराजने जैनधर्मीय तत्वज्ञान प्रणाली बड़ी ही सुन्दरता से बतलाई है। आपने उक्त ग्रन्थ के आदि में ही निश्चय और व्यवहार को बड़ी ही अच्छी तरह से समझाया है--

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥४॥

अर्थात्—मुख्य और गौण के विवेचन या प्रकट करने से जिन्होंने शिष्यजनों के कठिन अज्ञान या कुज्ञान को नष्ट करदिया है ऐसे व्यवहार और निश्चय को जाननेवाले ही धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति करते हैं।

जिन श्री अमृतचंद्राचार्य महाराजने समयसार ग्रंथ के ऊपर श्लोकबद्ध टीका की है वेही यदि पुण्यकार्य हेय होता या अविधेय होता तो पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ की रचना क्यों करते और क्यों देवपूजा दानादि को विधेय बतलाते ? खेद है कि आजके ये आध्यात्मिक संत होने का दम भरनेवाले जो कि समयसार को समझने में अमृतचंद्राचार्य के सामने समुद्र में बूंद के समान भी नहीं है, देवपूजा दानादि को बन्धका कारण बतलाकर हेय बतला रहे हैं ।

आगे उक्त आचार्य महाराज कहते हैं कि—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयंत्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

भावार्थ—भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ का नाम व्यवहार है । जो निश्चय ज्ञान से विमुख है उनके लिए तो सभी कुछ संसार या संसारवर्द्धक है ।

अभूतार्थ (व्यवहार) भी दो प्रकार का होता है । एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त । प्रशस्तव्यवहार भूतार्थ (निश्चय) के सम्मुख होता है और अप्रशस्त व्यवहार निश्चय के विमुख । यहां निश्चय से विमुख व्यवहार को जो संसारवर्द्धक बतलाया है उससे प्रयोजन है अप्रशस्त व्यवहार का, प्रशस्त व्यवहार का नहीं ।

पूजा दानादि करनेवाला आत्मा और शरीर को भिन्न देखता जानता है तभी तो वह वीतराग परमात्मा की पूजा करता है और

अपने धन से मोह हलका कर उसे दूसरे को देता है। आत्मामें सम्यग्दर्शन का अंश प्रकट हुये बिना भगवान् की पूजा कौन करेगा और धन दौलत की अनित्यता का ज्ञान हुये बिना कौन दान देगा? जो अपने को सम्यग्दृष्टि कहते या बतलाते हुये भी भगवान् की पूजा तथा दानादि को हेय बतलाते हैं वे यदि पूजा करते हैं, मंदिर भी बनवाते हैं, प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराते हैं तो भी वे मिथ्यादृष्टि ही हैं क्योंकि वे तत्वश्रद्धा से शून्य हैं।

भेद विज्ञान अर्थात् आत्मा और शरीर में भेदज्ञान से शून्य, दोनों को एक माननेवाले का व्यवहार सब अप्रशस्त व्यवहार होता है और वही हेय बतलाया गया है। केवल अप्रशस्त व्यवहारी को उपदेश देना लाभकारी नहीं है और उसके लिए देशना विधेय नहीं है।

सोही कहते हैं कि—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयंत्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥

भावार्थ—तीर्थंकर भगवान् ने अज्ञानियों को समझाने के लिए ही अभूतार्थ का व्याख्यान किया है। जो केवल अप्रशस्त व्यवहार में ही संलग्न है अर्थात् आत्माका शरीरसे भिन्न अस्तित्व ही नहीं मानता और न समझाने से समझता उसको आगेका उपदेश देना ही व्यर्थ है।

यहां देशना या उपदेशसे प्रयोजन सम्यक् चारित्र की देशना से है।

आगे फिर कहते हैं कि—

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एवहि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

भावार्थ—जिसने कभी सिंह नहीं देखा उसके लिए सिंह कैसे आकार वाला बिलाव ही उस समय तक सिंह है जबतक कि उसने सिंह न देखलिया है। इसी प्रकार जिसने जबतक भूतार्थ का बोध नहीं किया तब तक उसके व्यवहार ही भूतार्थ अर्थात् निश्चय है।

आगे बिलकुल स्पष्ट करते हैं कि—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥

अर्थात्—जो तत्वज्ञानपूर्वक व्यवहार और निश्चय दोनों को अच्छीतरह समझकर दोनों में मध्यस्थ होजाता है, दोनों का ही अवलम्बन करता है अर्थात् निश्चय की ओर टकटकी लगाये हुये प्रशस्त व्यवहार को अच्छी तरह पकड़े रहता है वही शिष्य देशना के समस्त फलको प्राप्त होता है।

यहां स्वयं अमृतचंद्राचार्य महाराज ने प्रशस्त व्यवहार को उपादेय बतलाया है। यदि प्रशस्त व्यवहार उपादेय न होता तो वे पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय अर्थात् पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय श्रावकीय

चारित्र को न बतलाते ? और न इस ग्रंथकी ही रचना में समय लगाते।

यदि पूजा और दानादि बंध के कारण और हेय होते तो स्वयं कुंदकुंदाचार्य महाराज ऐसा क्यों कहते ?

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा सोवि ॥११॥
(श्रीरयणसार)

अर्थात्—दान और पूजा श्रावक धर्म में मुख्य कर्तव्य अथवा उपादेय कार्य है। इनके बिना श्रावक नहीं कहला सकता। और यतिधर्म में मुख्य ध्यान और स्वाध्याय है। ध्यानाध्ययन के बिना यतिधर्म नहीं है। अर्थात्—दानपूजा के बिना श्रावक नहीं और ध्यान अध्ययन के बिना मुनि नहीं।

खेद है कि आजके वे समयसारी आध्यात्मिक संत होने का ढिंढोरा पीटनेवाले समयसार के प्रणेता कुंदकुंदाचार्य के ही विरुद्ध बोलते हैं और दान पूजादि को बंधका कारण बतलाते हुये हेय बतलाते हैं।

यहां एक बात यह भी विशेषतया जानने योग्य यह है कि स्वयं कुंदकुंदाचार्य महाराज दान और पूजाको धर्म कह रहे हैं जोकि "सावयधम्मे" इस पदसे सर्वथा स्पष्ट है।

विशेष शोचनीय बात यह है कि श्री कुंदकुंदाचार्यमहाराज के समयसार को तो पढा जाता है और रयणसार पाहुड आदि की

ओर से आंख मीचली जाती है। केवल समयसार में ही सारीबात नहीं आसकती जैसे कि एक ही दूकान में संसार की सब चीजें नहीं मिल सकतीं।

दया, धर्म है

इन आध्यात्मिक संत कहलानेवालों का कहना है कि दया करने में रागांश होने से–दया करना धर्म नहीं, "किन्तु पुण्यरूप है और बंध का कारण है" परन्तु श्रीकुंदकुंदाचार्य भगवान् कहते हैं कि—

धम्मो दयाबिसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदयरो भव्वजीवाणं ॥२५॥
(बोधपाहुड)

भावार्थ—जो दयाभाव से परिपूर्ण और विशुद्ध होता है उसीका नाम धर्म है, समस्त प्रकार के परिग्र हों से रहित अवस्था का नाम ही साधु दीक्षा है, जिसके किसी प्रकार का मोह नहीं वही भगवान् या देव है। ऐसा धर्म, ऐसी दीक्षा और ऐसा देव ही भव्य जीवों का अभ्युदयकारी है।

यहां दया सहित भावना और प्रवृत्ति को ही धर्म बतलाया है। समयसारी लोग ध्यान दें।

ये आध्यात्मिक संत बननेवाले व्रताचरण तपश्चरण आदि को भी स्वर्ग का कारण, स्वर्गादि प्राप्तिरूप संसार का हेतु बतलाकर तप व्रत धारियों के सर पर बैठना चाहते हैं उन्हें श्री कुंदकुंदाचार्य के मोक्षपाहुड से जानना चाहिये कि वे क्या कहते हैं—

वर तवयेहि सग्गो मा होउ णिरय इयरेहिं ।
छायातवठियाणं पडिवालंताण गुरु भेयं ॥२५॥

भावार्थ—अव्रत, अतप, अनर्गल विषयभोगों में प्रवृत्ति से तो नरक मिलता है और व्रत तप आदि से स्वर्ग लाभ होता है। सो हे भव्य! नरक प्राप्ति से तो स्वर्गलाभ बहुत ही अच्छा है और नरक और स्वर्ग में तो उतनाही भेद है जितना कि धूप और छाया के बैठने में है।

यदि व्रत तप आदि को स्वर्ग का कारण जानकर छोड़ा जाय तो सम्यक्त्व भी स्वर्ग का कारण है उसे भी छोड़देना पड़ेगा तो फिर इस मानव पर्याय में रह क्या जायगा? तपो व्रतादि से उसी भव में मोक्ष भी मिल जाता है जितने भी मुक्त हुये हैं उन्होंने मनुष्यपर्याय में जिससे कि मुक्तिलाभ किया है वे सब महान् तप और व्रत के धारी ही थे। व्रत तप आदि साक्षात् एवं परंपरया भी मुक्ति के कारण होते हैं। यहाँ श्री कुंदकुंदाचार्य महाराज का कहना है कि इस काल में यदि कालजनित प्रभाव से व्रत तप आदि द्वारा मोक्षलाभ नहीं भी होगा तो स्वर्गलाभ तो हो ही जायगा जो कि नरकलाभ से असंख्य गुणा अच्छा है। भाई! पत्थरों के बोझ से तो रत्नों का बोझ उठाना लाभकारी ही है। पत्थरों और अति मूल्यवान् रत्नों के बोझ में तो बड़ा भारी अन्तर है।

भगवान् कुंदकुंदाचार्य दर्शन पाहुड में कहते हैं कि—

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।
चउहिंपि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥३०॥

भावार्थ—संयम गुण युक्त ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों का समुज्ज्वल सुंदर योग मिलने पर ही जैन शासन में में मोक्षलाभ माना गया है।

यहां तपश्चरण को स्पष्ट मोक्ष का कारण बतलाया गया है, फिर भी केवल स्वर्ग का कारण मानना भूल है। हुंडावसर्पिणी काल के प्रभाव से इस पंचमकाल में इस क्षेत्र से मोक्ष लाभ नहीं होता जिसमें व्रत तप बाधक नहीं किन्तु व्रत तप की चरमसीमा में द्रव्य क्षेत्र काल बाधक हैं।

आगे कहते हैं कि सम्यक्त्व और ज्ञान से तप और चारित्र अधिक सारभूत है—

णाणं णरस्स सारो सारोवि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥३१॥

अर्थात्-मनुष्य के लिए सबसे प्रथम सारभूत पदार्थ तो ज्ञान है। ज्ञान से भी अधिक सारभूत सम्यक्त्व है औरसम्यक्त्व से भी अधिक सारभूत चारित्र (व्रत तप) है।

यहां आचार्य श्री ने सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन से भी विशेष मूल्यवान चारित्र (व्रत तप) को बतलाया है।

आगे और भी कहते हैं कि—

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरियेण सम्मसहियेण।
चोण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो ॥३२॥

भावार्थ—सम्यकत्व सहित ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारके संयोग होजाने पर निःसंदेह जीव सिद्धपद को पाजाते हैं।

यहाँ स्पष्ट रूप से निःसंदेह शब्द के साथ तप और चारित्र को सिद्धपद के लाभ में कारण बतलाया है। खेद है कि ये समय सारी लोग साक्षात् को तो दवेशब्दोंमें महत्व देते हैं और पारंपरिक की उपेक्षा करते हैं परन्तु साक्षात् एकदम हो कैसे जायगा ? उसके लिए भी तो उपाय की आवश्यकता है। यह ठीक है कि एम. ए. पास प्रोफेसर होता है परन्तु एम. ए. पास, बिना पहले की परीक्षा पास किये तथा पहले की पुस्तकें पढ़े लिखे कैसे हो जायगा ?

श्री तत्वार्थ सूत्र ग्रंथराज में भगवान् उमास्वामी आचार्य महाराज ने स्वयं तप त्याग आदि को धर्म बतलाया है;—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः। (अ० ६-६)

इसका अर्थ स्पष्ट है। दशलक्षण धर्म प्रसिद्ध है जिसमें शौच, तप, त्याग आदि सभी हैं फिर भी तप से धर्म न मानना वंध मान लेना नितान्त मूर्खता का द्योतक है। तप में एक विशेषता और यह है कि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, आदि से तो संवर ही होता है परन्तु तप से कर्मों की निर्जरा भी पर्याप्त होती जैजा कि-"तपसा निर्जरा च" इस सूत्र से सुस्पष्ट है।

पूजा दानादि ही नहीं, मंदिर बनाना भी धर्म है

देवपूजा, पात्रदानादि तो धर्म है ही जैसा कि ऊपर के प्रमाणों आदि से सुस्पष्ट है किन्तु मंदिर बनाना आदि भी धर्म ही है जैसा कि अनेक प्रमाणों से प्रकट है, जिनमें से एक यह पुष्ट प्रमाण है—

निर्माप्यं जिन चैत्यतद्गृहमठस्वाध्याय शालादिकं
श्रद्धाशक्त्यनुरूपमस्ति महते धर्मानुवंधाय तत् ।
हिंसारंभविवर्तिनां हि गृहिणां तत्तादृगालंबन
प्रागल्भीलसदाभिमानिकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसम् ॥
धर्मामृत श्रावकाचार (अ.२—३५)

अर्थ—अपनी श्रद्धा और शक्ति के अनुसार जिन प्रतिमा, जिनमंदिर, नशियां, स्वाध्यायशाला आदि श्रावक को बनाना चाहिये क्योंकि इनका निर्माण कराना धर्म और धर्म के लिए है। गृहस्थ श्रावक सदैव हिंसा और आरंभ के कार्यों में लगा रहता है यदि प्रतिमा निर्माणादि कार्यों में चतुरता और अभिमान के साथ भी प्रवृत्ति करता है तो भी उसे महान् पुण्य का लाभ होता है। इन कार्यों से अपने को तथा परको भी चिदात्मलाभ होता है।

चतुरनुयोगमय जैनागम में इन बातों में धर्म तत्व के समर्थक हजारों उल्लेख हैं जिनको विस्तार के भय से लिखे जाने में संकोच होता है, जिन्हें स्वाध्यायशील विवेकी लोग खूब जानते भी हैं।

पुण्य बिना धर्मतीर्थ ही नहीं चलता

यह सुनिर्णीत और निर्विवाद सिद्धान्त है कि धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक तीर्थङ्कर भगवान् ही होते हैं। कितने ही केवली श्रुतकेवली क्यों

न होगये हों या होंगे परन्तु वे धर्मतीर्थ में मज्जन करने वाले ही होते हैं या होंगे। धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक नहीं होते। धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक (संचालन करने वाले) तीर्थङ्कर भगवान् ही होते हैं और तीर्थङ्कर नामक नाम कर्म की ९३ प्रकृतियों में एक महान् पुण्य प्रकृति होती है।

कर्म की आठ प्रकृतियों के १४८ उत्तर भेद होते हैं जिनमें १०६ पाप प्रकृतियाँ और ४२ पुण्य प्रकृतियां होती हैं। इन ४२ पुण्य प्रकृतियों में तीर्थङ्कर नामक पुण्य प्रकृति परमोत्कृष्ट होती है जिसका बंध केवली श्रुतकेवली के निकट ही होता है। वे केवली श्रुतकेवली तीर्थङ्कर प्रकृति के बंध कराने में निमित्त होते हुये भी धर्मतीर्थ के संचालक नहीं होते। तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध करने वाले के संसार के कल्याण करने के ऐसे तीव्रतम औत्सुक्यपूर्ण परिणाम होते हैं कि वह यह चाहता है कि मुझे ऐसे सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति हो जिससे मैं सारे संसार का कल्याण कर सकूँ। इस महान् रागभाव से ही वह तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध करके परमैश्वर्य-संपन्न महाविभूतिका धारी तीर्थङ्कर होकर धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करता है। इस काल में २४ तीर्थङ्कर ही ऐसे हुये जिन्होंने धर्मतीर्थ चलाया है। यदि ये महापुरुष इतना महान् पुण्यबंध न करते तो धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति ही नहीं होती और धर्म एवं शुद्ध परिणति की न चर्चा होती और न चर्चा करने वाले ही मिलते। पुण्यबंध को हेय बतलाने वाले स्वयं विचारें और पुण्यबंध की परम उपादेयता को समझ उन्मार्ग में जाने वाले तथा दूसरों को भेजने में

भागीदार न बनें। इसलिए यह कहना अनिवार्य हो जाता है कि पुण्य बिना धर्म नहीं और धर्म से भी बड़ा पुण्य है क्योंकि धर्म का उत्पादक ही पुण्य है। जो पुण्यबंध को हेय बतलाते हैं वे तीर्थङ्कर भगवान् की भी सच पूछिये तो अपेक्षा न करने वाले हैं जोकि प्रत्येक आस्तिक के लिए असहनीय है।

धर्मध्यान और मोक्ष

ध्यान चार प्रकार के बतलाये हैं। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें दो ध्यानों अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान को भगवान् उमास्वामी आचार्य ने मोक्ष का कारण बतलाया है परन्तु धर्म-ध्यान तो क्या शुक्लध्यान के चार भेदों में आदि के तीन भेद (पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्क वीचार और सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती) भी मोक्ष के साक्षात् कारण नहीं हैं। मोक्ष का साक्षात् कारण तो व्युपरत क्रिया निवर्त्ती नामक शुक्ल ध्यान का चौथा भेद ही है। यदि साक्षात् कारण को ही मोक्ष का कारण माना जाय तो "परे मोक्षहेतू" यह उमास्वामी महाराज का कहना गलत होजाता है। जिस प्रकार चार धर्मध्यान (आज्ञाविचय, अपाय विचय, विपाकविचय और संस्थान विचय) और उक्त तीन शुक्ल-ध्यान परंपरया मोक्ष के कारण हैं उसी प्रकार देवपूजा दानादि भी मोक्ष के परंपरया कारण है। देवपूजा दान तप व्रत आदि को मोक्ष का कारण न मान बंध का कारण मानना तत्वज्ञान से सर्वथा शून्यता की सूचना देना है।

चौदहवें गुणस्थान से ऊपर गुणस्थानातीत अवस्था का नाम मोक्ष या मुक्ति है। चौदहवें गुणस्थान में व्युपरतक्रियानिवर्त्ती नामक चतुर्थ शुक्लध्यान होता है उसीके बाद मोक्ष होता है। धर्मध्यान सप्तमगुणस्थानतक ही रहता है। तीन प्रकार के शुक्ल-ध्यान अष्टमादि त्रयोदशांत गुणस्थानों में होते हैं परन्तु सप्तम से तेरहवें गुणस्थानतक किसी भी गुणस्थान से मुक्ति नहीं होती तो क्या इन सात प्रकार के ध्यानों (४ धर्म + ३ शुक्ल) को मोक्ष का कारण न मानना चाहिये? यदि ये मोक्ष के कारण हैं तो इनके कारण देवपूजा, पात्रदान, व्रत तप आदि मोक्ष के कारण क्यों नहीं? साक्षात् को ही कारण मानना और पारंपरिक को कारण न मानना वैसा ही है जैसे अपनी उत्पत्ति में अपने ही खास पिता को तो कारण मानना और पितामह (बाबा) को न मानना है। सोचने की बात है कि यदि पितामह न होता तो पिता कहां से आता? यदि कुन्दकुन्दाचार्य के बचनों से अपना उपकार मानकर उन्हें नमस्कार करने वाला कुन्दकुन्दाचार्य को नमस्कार न करे या उन बचनों में उन्हें कारण न माने तो मूर्खता की पराकाष्ठा ही कही जायगी।

धर्मध्यान और भद्रध्यान

जो देव पूजा पात्रदान, व्रत, तप आदि से वंध मानकर इन्हें हेय बतलाने वाले यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय तो सम्यग् दृष्टि की कोटि में भी नहीं आते तो भी परतोषन्याय से उन्हें पंचम गुणस्थानवर्ती अथवा देशव्रती खैंचतान कर माना जा सकता है। पांचवें गुणस्थान में तो क्या? छठे गुणस्थान प्रमत्त विरत में भी अर्थात्

दिगम्बर जैन मुनि के भी धर्मध्यान वास्तव में न मानकर उपचार से ही माना गया है। सो ही आचार्यवर्य श्रीदेवसेन महाराज श्रीभावसंग्रह में कहते हैं कि—

मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे।
देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं ॥३७१॥

अर्थ—मुख्यता से धर्मध्यान अप्रमत्तविरत नामक सातवें गुणस्थान में ही कहा गया है। देशविरतनामक पंचम गुणस्थान और प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थान में तो उपचार से ही धर्मध्यान समझना चाहिये।

आजकल लोग भोगों को यथाशक्ति छोड़कर धर्म का चिंतन भी करते हैं परन्तु फिर भोग भोगने लग जाते हैं फिर धर्म का चिंतन करने लगते हैं फिर इच्छानुसार विषय भोग भोगने लग जाते हैं उनके वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो धर्मध्यान नहीं है किन्तु वह भद्रध्यान है, सो ही उक्त ग्रन्थ में कहा गया है कि—

भद्दस्स लक्खणं पुणधम्मं चिंतेइ भोगपरिमुक्को।
चिंतिय धम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए ॥३६५॥

अर्थ—भद्रध्यान उसे समझना चाहिये कि जहां यह मनुष्य भगों से कुछ मुक्त या अलग होकर धर्म का चिंतन करता है या सेवन करता है और थोड़ी देर बाद फिर इच्छानुसार विषय भोगों में मग्न हो जाता है। ऐसा धर्मचिंतन या धर्मसाधन धर्मध्यान नहीं किन्तु भद्रध्यान ही समझना चाहिये।

वर्तमान में धर्मात्मा कहलाने वाले संसारी जीवों की परिणति ऐसी ही है। थोड़ी देर सामायिक पूजा स्तवन वंदनादि द्वारा आत्म-साधन या धर्मसाधन करते हैं परन्तु थोड़ी देर बाद नौकरी, व्यापार, व्यवसाय, गृहव्यापार, विषयसेवन, खाना, पीना, आदि सांसारिक कार्यों में लग जाते हैं फिर कुछ देर धर्मचर्चा या धर्मसाधन कर लेते हैं। ऐसी अवस्था में उसका नाम धर्मध्यान नहीं किन्तु भद्र-ध्यान है।

अब विचारने का स्थल है कि यहां तो धर्मध्यान भी नहीं बतलाया तब इस धर्मसाधन या धर्मचिंतन को जिसका नाम भद्र-ध्यान है मोक्ष का कारण माना जाय या नहीं ? जहां तक विचार किया जाता है तो यह भद्रध्यान भी मोक्ष का कारण ही है। जितने अंशों में धर्मचिंतन है उतने अंशों में मोक्ष कारणता है और जितने अंशों में विषयभोग प्रवृत्ति है उतने अंशों में संसार कारणता है।

श्रावक का धर्म देवपूजा, दान, देशव्रतादि रूप है और मुनि का धर्म महाव्रतादि रूप है अतः यह सब धर्म है और धर्म सदैव सुख अर्थात् (मोक्ष) का ही कारण होता है, असुख अर्थात् संसार का नहीं। सो ही श्रीगुणभद्राचार्य महाराज श्री आत्मानुशासन में कहते हैं कि:—

> धर्मः सुखस्य हेतुः हेतुर्न विरोधकः स्वकार्यस्य ।
> तस्मात् सुखभंगभिया माभूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥२०॥

अर्थ—धर्म सुख का ही कारण होता है। कारण कभी अपने कार्य का विरोधी नहीं होता। आचार्य कहते हैं कि—इसलिए हे भव्य! तू सुख भंग हो जाने के भय से धर्म से विमुख मत हो।

आगे और कहते हैं कि—

धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥२१॥

अर्थ—धर्म से सुख संपदारूप वैभव प्राप्त कर फिर भी धर्म-साधन करते हुए भोग भोगो। जैसे किसान बीज से धान्य को प्राप्त कर धान्य से धनवान् बनकर भी आगे धान्य उपजाने के लिए बीज को बचाकर ही धान्य का फल भोगता है।

यहां आचार्य श्री का धर्म से प्रयोजन पुण्य से ही है। क्योंकि आगे जाकर 'पुण्यं कुरुष्व' आदि पद्यों द्वारा पुण्य करने का उपदेश दिया है, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है।

यदि पुण्य या धर्म के कार्यों को बंध का कारण बतलाकर हेय कहते हुये छोड़ दिया जायगा तो धर्म से प्राप्त होने वाली सांसारिक सुख संपदाओं से भी वंचित हो जाना पड़ेगा और मोक्षप्राप्ति सर्वथा इसलिए असम्भव है कि कोरी चर्चा या वातों से काम चलना नहीं। मोक्ष के लिए परमोच्चकोटि के चारित्र की आवश्यकता है तब पाप से मिलने वाला जो दुःख, दरिद्रता, शोक परितापादि फल है, वही मिलेगा, पूजा दान व्रत तप आदि छोड़ देने से स्वर्गादि संपदा भी नहीं मिलेगी तब नरक तिर्यञ्चगति के महान् संकटों में ही अनन्त भव पूरे हो जायेंगे। मोक्ष के अनुरूप सम्यग

दर्शनादि मिलेंगे तब न ? जब कि उनको उपादेय माना जावे ! जब साधारण व्रत तप को ही हेय बतलाया जाता है तो महान् तप ता और भी अत्यन्त हेय ठहर जाता है। क्योंकि जिसके लिए एक पैसा भी हेय है उसके लिए करोड रुपये हेय क्यों नहीं ? असंख्य पैसे मिलकर ही तो करोड़ रुपये होते हैं। करोड रुपयों में भी पैसा है।

पूजा दानादि से निर्जरा

कर्मों की आत्यंतिक और समस्त निर्जरा हो जाने का नाम ही मोक्ष है। वह निर्जरा इकदम नहीं होती किन्तु अनेक अवस्थाओं में क्रमशः होती है। मिथ्या दृष्टि से सम्यग्दृष्टि के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है और सम्यग्दृष्टि से श्रावक के। इसी प्रकार श्रावक से छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत विरत के, उससे अप्रमत्तविरत के उससे अनंत वियोजक अर्थात् अनंतानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करने वाले के, उससे उपशमक के, उससे उपशांत मोह के उससे क्षीण मोहके, उससे जिन भगवान् के उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा हो जाती है और समस्त बद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाने पर और नवीन कर्मों के आने का कारण न रहने पर मोक्ष हो जाता है, सो ही कहा है कि—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशान्तक्षीण मोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४६॥

(श्रीतत्त्वार्थसूत्र नवमाध्याय)

श्रावक वही होता है जो अणुव्रतादि का पालन करता हो और देवपूजादि षट् कर्म करता हो। अब सोचने और समझने की

बात है कि व्रतपूजादानादि को बंध का ही कारण अलापता रहकर हेय बतलाता रहे तो यह तत्त्व अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व नहीं तो और क्या है ?

उक्त सूत्र के वार्त्तिककार भगवान् अकलंकदेव महाराज ने इस सूत्र की व्याख्या में श्री तत्वार्थ राजवार्तिक नामक परमागम में लिखा है कि—

अथवा पूर्वोदित एव शंकादिदोषविनिर्मुक्तः कुसमयैरक्षोभितमतिः उपलब्धसद्भावो मोहतिमिरपटलविप्रयुक्तिदृष्टिः जैनेंद्रपूजा प्रवचनवात्सल्यसंयमादिप्रशंसादिपरतया क्षपितोपशमितदेशघातिकर्मा संयमप्राप्त्या श्रावकोऽपि स्यात् पूर्वं निर्दिष्टस्ततो विशुद्धिप्रकर्षात्पुनरपि सर्वगृहस्थसंगविप्रमुक्तो निर्ग्रंथतामनुभवन् विरत इत्यभिलप्यते ।

भावार्थ—पहले सातवें अध्याय में कहे हुये श्रावक के स्वरूप के अनुसार शंकादिक आठ दोषों से रहित, खोटे शास्त्रों से अपनी बुद्धि को क्षोभित न होने देने वाला, आत्मीय सद्भावों से युक्त, मोहांधकार के पटल से रहित दृष्टि वाला, जिनेंद्रदेव की पूजा तथा देव गुरु शास्त्र में विशेष अनुराग करने वाला, संयमभाव आदि चारित्र की प्रशंसा करने में तत्पर तासे वह सम्यग्दृष्टि जीव जब आत्मा के चारित्र गुण का एक देश घात करने वाले अप्रत्याख्याना-वरण कर्म का उपशम या क्षय कर देने से एक देश संयम की प्राप्ति करके श्रावक बन जाता है। तब वह देश व्रती श्रावक

प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षयोपशम दृष्टि वाले प्राणी से भी असंख्यात गुणी निर्जरा करता है। फिर उससे भी विशेष विशुद्धि की प्रकृष्टता से संपूर्ण गृहस्थ के परिग्रह से रहित होकर जब निर्ग्रन्थ हो जाता है तो उसको विरत कहा जाता है और उस छठे गुणस्थानवर्ती विरत निर्ग्रंथ मुनि के देश संयमी श्रावक के जितनी कर्मनिर्जरा होती है उससे भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। अब शास्त्रज्ञ निष्पक्ष विवेकशील महानुभाव सोचें कि समय सार की रटन्त लगाने वाले ये आध्यात्मिक संत बनने वाले कितने अतत्वश्रद्धानी और मिथ्या भाषी हैं।

भगवान् और भक्ति

भक्ति करने वाला जिसकी भक्ति करता है उसे बड़ा तथा पूज्य मानने पर ही भक्ति होती है। यदि कोई भक्ति करने वाला भगवान् को यह कहता जावे कि आप और मैं दोनों समान हैं। आप मैं और मुझ में कोई अंतर नहीं है तो उसका नाम भक्ति नहीं। भगवान् को अपने समान मानते रहने से चाहे वह मन में राजी होले परन्तु भगवान् और भक्त का भेद मिट नहीं सकता। यदि वह भेद मिट जाय तो सांसारिक आत्मा और मुक्त आत्मा का अन्तर ही जाता रहे और कौन सांसारिक प्राणी संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करे? तो भी आजकल कुछ आध्यात्मिक संत कहलाने वाले भगवान में और अपने में भेद नहीं मानते और कहते हैं कि शक्ति की अपेक्षा कोई भेद नहीं व्यक्ति की अपेक्षा से है। आज कोई अपने को केवल शक्ति की अपेक्षा भारत का

प्रधान मंत्री भी मानता रहे तो उससे फल क्या निकलेगा ? शक्ति और व्यक्ति का ही तो महान् से भी महान् अन्तर है। उस महान् से भी महान् अन्तर को अन्तर न समझना अक्षम्य उद्दंडता है।

पूज्यपाद आचार्य श्री वादिराज सूरि महाराज ने ऐसी समझ को मिथ्यात्व बतलाया है—

प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख ! त्वामनुध्यायतो मे
त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा ।
मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलाः त्वत्प्रसादात् भवन्ति ॥१७॥

(एकी भावस्तोत्र)

अर्थ—हे भगवन् ! जब मैं आपका ध्यान करता हूं, तब मैं अपने आपको भूलकर अपने में और आपमें कुछ भी अन्तर नहीं समझता हूं सो यद्यपि यह मेरी समझ मिथ्यात्व रूप है, असत्य है, झूठी है क्योंकि आपने तो अविनाशी सुख पालिया है और मैं जन्म मरण के जाल में ही फंसा हुआ हूं तो भी यह समझ मुझे आत्मस्वभाव से अविचलित न होने रूप तृप्ति कर देती है। आपके ध्यान के पहले मुझे अपने असली स्वरूप का पता नहीं था, मुझे अपने असली स्वरूप का परिचय आपके ध्यान से ही हुआ है। सो ठीक ही है क्योंकि जो दोषात्मा या दोषों से दूषित होते हैं वे भी आपके प्रसाद से अभिमतफल अर्थात् इच्छित फल को प्राप्त हो जाते हैं।

इस श्लोक द्वारा श्री आचार्य महाराज ने दो सिद्धान्त स्थापित किये हैं। एक तो यह कि भगवान के समान अपने को समझना मिथ्यात्व है और दूसरा यह है कि भगवान् या उनकी मूर्त्ति के ध्यान से दोषात्मा भी सफल मनोरथ हो जाते हैं।

नमस्कार भी पूजा ही है

पूजा का अर्थ सत्कार करना है। किसी को नमस्कार करना सत्कार का अंग होने से पूजा ही है। सभी आचार्यों ने और समयसार के कर्त्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने भी ग्रन्थ रचना के आदि में समयसार प्रवचनसारादि समस्त शास्त्रों में मंगलाचरण करते हुए भगवान ऋषभ देव, भगवान महावीर आदि को नमस्कार किया है। जैसा पूजा को बंध का कारण बतलाया जाता है, वैसा ही नमस्कार भी क्यों नहीं? किसी को भी नमस्कार करने में मनोवचनकाय योग रहता है और वही आस्रव का कारण है। "काय वाङ्मनःकर्म योगः स आस्रवः॥" (त० सू० ६ अ०)

भगवान के नमन ध्यान, अर्चन और स्तवन का इतना आदर्श महत्व प्रामाणिकता पूर्ण होते हुये भी इन्हें बंध का कारण मान कर हेय बतलाना अक्षम्य और दंडनीय अपराध है।

भगवद्भक्ति और निर्ग्रन्थ साधु

भगवान् की भक्ति करना गृहस्थ या श्रावक का ही कर्तव्य नहीं है किन्तु निर्ग्रन्थ दिगंबर साधु का भी है। श्री समन्तभद्राचार्य, श्री मानतुंगाचार्य, श्री वादिराज सूरि महान् आदर्श तत्ववेत्ता

विद्वान् और निर्ग्रन्थ दिगंबर साधुराज (आचार्य) थे। उन्होंने भगवान् की आन्तरिक भक्ति से अपने पर आये अनेक संकटों के बादल दूर किये थे जिनके उल्लेख और कथानक प्रसिद्ध हैं। भक्तामर स्तोत्र, स्वयंभूस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र आदि आस्तिक धर्मशील प्राणियों द्वारा नित्य आंतरिक भक्ति से पढ़े जाते हैं। यदि भगवान् की भक्ति, अर्चा, स्तुति आदि को बंध का कारण बतला कर हेय बतला दी जायगी तो फिर धर्म और आध्यात्मिकता के नाम पर संसार में रह क्या जायगा? आध्यात्मिकता की जड़ भगवान् की स्तुति, पूजा और भक्ति आदि में ही है। यदि बंध का कारण बतला कर हेय मानते हुए इस जड़ को हिलाकर उखेड़ दी गई तो सम्यक्त्व का मूल चिन्ह आस्तिक्य भाव ही विश्व से समाप्त हो जायगा।

स्वात्मानुभूति ही सम्यग्दर्शन है

अपने आत्मा के अनुभव या दर्शन का नाम ही सम्यग्दर्शन है परन्तु वह स्वात्मानुभूति कैसे हो उसका भी क्रमबद्ध ही मार्ग है। वह स्वात्मानुभूति ध्यान से होती है। साक्षात् स्वात्मानुभूति का साक्षात् मार्ग रूपातीत ध्यान है जिसका नाम निरालंब ध्यान भी है गृहस्थ अथवा परिग्रहवान् के निरालंब ध्यान नहीं हो सकता। निरालंब ध्यान सप्तम गुण स्थान में ही होता है। सोही श्री भाव-संग्रह में श्री देव सेनाचार्य महाराज कहते है कि—

जं पुणु वि णिरालंबं तं झाणं गयपमायगुणठाणे।
चत्तगेहस्स जायइ धारियजिणलिंगरूवस्स ॥३८१॥

अर्थ—वह निरालंब ध्यान अप्रमत्त गुणस्थान में गृहत्यागी, अर्थात् जिनलिंगरूप धारी के ही होता है।

गृहस्थ अवस्था में सालंब धर्मध्यान ही हो सकता है। सालंब ध्यान में आलंबन के लिए पंच परमेष्ठी आवश्यक हैं। पंचपरमेष्ठी के ध्यान, पूजन स्तवनादि को बंध का कारण मान हेय बतला दिया जाय तो सालंब ध्यान कैसे हो, और सालंब ध्यान न हो तो मुक्ति लाभ कैसे हो?

सालंब ध्यान का फल अशुभ कर्मों की निर्जरा है. कहा है कि-

एवं तं सालंबं धम्मज्झाणं हवेइ णियमेण।
झायंताणं जायइ विणिज्जरा असुहकम्माणं ॥३८०॥

भाव संग्रह)

अर्थ—इस प्रकार सालंब ध्यान करने वाले का ध्यान धर्मध्यान होता है और ऐसा सालंब ध्यान करने वाले के अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है।

उपदेश देने का अधिकारी कौन?

आजकल थोड़ी सी बोलने की कला सीखकर हर कोई उपदेश देने लग जाता है जिससे सांसारिक प्राणियों का हित के बदले अहित बहुत होता है यही बात देखकर पूज्यपाद श्रीगुणभद्राचार्य महाराज ने अपने आत्मानुशासन ग्रन्थ में उपदेश देने वाला कैसा हो, यह स्पष्ट किया है—

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः ।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिंदया
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥५॥

अर्थ—जो प्राज्ञ अर्थात् अत्यन्त बुद्धिमान् हो, न्याय व्याकरण संस्कृत प्राकृत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग के समस्त शास्त्रों का रहस्य जानता हो, समस्त लोकस्थिति का ज्ञाता हो, जिसके किसी प्रकार की आशा या चाह न हो, प्रतिभाशाली हो, जिसके परिणामों में प्रशम (शांति अथवा वैराग्य) हो, प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का उत्तर जिसे पहले ही उपस्थित हो और कोई प्रश्न करे तो उसके प्रश्न को सहन करने वाला हो, प्रभावशाली हो, दूसरों के मन को हरण करने वाला हो अर्थात् जिस पर श्रोता जन पूर्णश्रद्धा रखते हों, दूसरे की निंदा न करता हो, गुणों का खजाना हो, जिसकी बिलकुल स्पष्ट और मधुरवाणी हो वही गणी अर्थात् गणनायक आचार्य धर्मकथा कहे, अन्यथा नहीं ।

आजकल जो आध्यात्मिक उपदेष्टा संत बन रहे हैं उनकी यह दशा है कि संस्कृत प्राकृतमय चारों अनुयोगों के शास्त्रों का रहस्य उन्हें रंच मात्र भी मालुम नहीं है । यदि उन्हें समस्त शास्त्रों का रहस्य विदित होता तो व्रत तप पूजा दानादि से बंध बतलाकर कभी इन्हें हेय न बतलाते और ऐसा करने पर प्रश्न उपस्थित होने से प्रश्नकर्त्ता को जन समूह में उत्तर देते और उन प्रश्नों के सहन करने की उनमें सामर्थ्य होती ? लोक स्थिति का भी उनको ज्ञान

होना चाहिये था कि यदि दान पूजा व्रत तप आदि को लोग हेय समझकर छोड़ देंगे तो श्रोताओं का धार्मिक नैतिक स्तर कितना गिर जायगा और उसका क्या फल होगा। विदित हो कि इस प्रकार के उपदेशों के प्रभाव से सैंकड़ों लोगों ने देवपूजा, व्रत, दान तप आदि धार्मिक प्रवृत्तियां छोड़ दी हैं और जो लोकलाज से करते भी हैं तो अश्रद्धा के साथ ऐसे या वह दिखलाने के लिए कि ये लोग मंदिर बनाते हैं, पूजा करते हैं आदि। इस आडंबर के दिखलाने का यही प्रयोजन स्पष्ट है कि लोग भ्रम में आकर उनके संपर्क में आते रहें और उनके वाग्जाल में फंसते रहें। मनुष्य के चारित्रपालन की तरतमता या अभाव में चारित्र मोहनीयकर्म का क्षय, उपशम, क्षयोपशम या उदय कारण होता है परन्तु इस तरतमता या अभाव में तथा देवपूजा व्रतदानादि पालन को बंध का कारण मान हेय बतलाने में बड़ा भारी अन्तर है। जो चारित्र नहीं पालता या कमीवेशी पालता है परन्तु चारित्र पालन को हेय नहीं मानता और चारित्र तथा चारित्रधारियों में श्रद्धा रखता हो तो उसे सर्वथा मिथ्यादृष्टि नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो पदार्थ जैसा है उसे वह वैसा ही देखता है परन्तु जो उनको हेय मानता है, उनकी निंदा करता है, चारित्रधारियों की [निंदा करता है और वह कुछ लोग दिखाऊ देवपूजादि कार्यों में प्रवृत्ति भी करता है तो वह इसलिए घोर मिथ्या दृष्टि है कि वह महान् अतत्वश्रद्धानी है। इसलिए करता क्या है यह न देखकर कहता क्या है यह विशेषतः देखना है क्योंकि तत्वश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट ही अधिक भ्रष्ट होता है और उसे निर्वाणलाभ नहीं होता, चारित्र से भ्रष्ट तो

यदि उसका सम्यग्दर्शन अविचलित है तो पुनः चारित्र धारण करने पर सुमार्ग पर लग जायगा परन्तु दर्शन भ्रष्ट का कल्याण नहीं हो सकता।

नया पंथ चल जायगा

भगवान् महावीर स्वामी के समय केवल जैन धर्म ही था परन्तु पीछे श्वेतांबर जैन धर्म नया पंथ या संप्रदाय स्थापित हुआ फलतः जैन धर्म में दिगंबर और श्वेताम्बर दो संप्रदाय होगये और दोनों की अनेक मान्यताओं और प्रवृत्तियों में अन्तर आगया। आजकल तो सैद्धांतिक विरोध के अतिरिक्त अनेक झगड़े भी आपस में चल रहे हैं। दिगंबर जैन संप्रदाय में भी अनेक पंथ खड़े होगये जिनकी मान्यताओं को लेकर अनेक झगड़े चलते रहते हैं।

श्वेतांबर जैन संप्रदाय में मूर्ति पूजा का विरोधी एक स्थानकवासी संप्रदाय हुआ और उससे भी संवत् १८१५ में एक श्वेताम्बर जैन तेरापंथी संप्रदाय चला जिसमें दया दानादि को एकान्तिक पाप माना जाकर निषेध किया जाता है। उन मान्यताओं का यद्यपि आज विरोध भी होता है परन्तु जिसने जो पक्ष पकड़ लिया उसे वह छोड़ता नहीं और वही पक्ष पीढियों तक अविच्छिन्न चलता रहता है और जहां स्थानकवासियों और तेरापथियों के साधु एक जगह हो जाते हैं वहां आपस में इतनी थूकमफजीहत होती है कि जिसका ठिकाना नहीं।

दिगंबर जैन समाज में चाहे ये समयसारी आध्यात्मिक संत बनने वाले एक निश्चय नय या द्रव्यदृष्टि को लक्ष्य में रखकर ही

अपना प्रवचन करते हों, उपदेश धारा चलाते हों परन्तु भविष्य में जाकर एक श्वेताम्बर जैन तेरा पंथी जेसे नये संप्रदाय का रूप धारण कर लेगा और आपसी लड़ाई झगड़े का निमित्त बन जायगा।

आजकल राजनैतिक वातावरण, पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव, जैनधर्म के वास्तविक प्रचार के अभाव, धर्मग्रंथों के स्वाध्याय की न्यूनता, धर्मशिक्षण की अतिमंदता, सरलमार्गप्रियता आदि के कारण पहले ही लोग धर्मक्रियाओं से उदासीन और विरक्त होते जारहे हैं एवं स्वच्छन्द मार्ग को अपना रहे हैं यदि उन्हें देवपूजा व्रत तप दानादि को पुण्य बंध का कारण बतलाकर हेय या त्याज्य बतलाने की अस्वस्थ और अनुचित परंपरा भी बनी रही और इस परंपरा की जड़ पनपती रही तो इस त्यागप्रधान जैन समाज में धर्म या पुण्य नाम की कोई चीज भी नहीं रहेगी और आत्मसाधना के आदर्श स्थान जिन मंदिर साधारण अजायबघर भी नहीं रहेंगे। दानपूजादि की प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी। व्रत तपश्चरण संयम आदि की आत्मशोधक आदर्श परम्परा जाती रहेगी। चाहे इस समय कुछ धनिक लोग धन के बल पर अथवा अपने अधीनस्थ जन बल के आधार पर इस मार्ग को सरलता के कारण अपनावें और ऐसे आध्यात्मिक संत कहलाने वालों को केवली श्रुतकेवली या तीर्थंकर भी मानें या भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य स्वामी के बाद और किसी को वैसा न समझ उन्हीं को मानें और उनको ऊँचे से ऊँचा स्थान देने में एडी से चोटी तक पसीना बहाकर पूरी शक्ति लगादें परन्तु भावी पीढियों के लिए धार्मिक दृष्टि से

यह उद्योग परम्परा अनर्थकारक ही साबित होगी इसलिए दूरदर्शी विवेकशील दिगंबर जैन समाज के अगुआओं का कर्तव्य है कि भविष्य में धर्मविध्वंसकारिणी इस चारों ओर मुंह फाड़कर बढ़ती हुई बाढ़ का नियंत्रण करें और इन आध्यात्मिक संत कहलाने वालों को समझावें कि लौकेषणा मान्यता आदि के मोह से मिथ्यामार्ग और जैनागम के विरुद्ध विष संचार न करें। मेरा इन महानुभावों से कोई द्वेष नहीं परन्तु उनके द्वारा जो सन्मार्ग अवरुद्ध होता जा रहा है उसी के प्रकाश के लिए यह निबंध लिखने का इस अस्वस्थ अवस्था में भी प्रयास किया है। यदि जैन समाज ने इससे कुछ लाभ लिया तो मेरा यह प्रयास सफल होगा। इति

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शांतिमाप्नुयात्।
शांतो मुच्येत बंधेभ्यो मुक्तश्चान्याम् विमोचयेत्॥

जैनं जयतु शासनम्
